

रमेश चन्द्र शाह की डायरी एवं संस्मरण का आलोचनात्मक अध्ययन

कृपा शंकर

शोध छात्र- हिन्दी
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (मध्य प्रदेश)

शोध-प्रपत्र

‘लाइफ’ और ‘आर्ट’ के अंतस्संबंध का खुलासा पूरी तरह ‘आर्ट’ से ही नहीं हो सकता और नहीं हो जाना चाहिए क्या ? पर क्या एक पूरक टीका की तरह आत्मकथा भी जरूरी नहीं- कम से कम ऐसी असामान्य जीवनी को देखते हुए ? फिल्म में लियोन ट्रॉट्स्की की भूमिका। एक और पेच। मगर किस कदर त्रासद और विडंबनापूर्ण- अपनी दुर्निवाग्रता में!’¹ और, और आइडियोलॉजी ? विकलांगता की क्षतिपूर्ति ? या कि ‘फुलफिलमेंट’ की प्यास ?

27.09.04

“दूसरों के धर्म-परिवर्तन का उन्माद- एक ऐसा सांघातिक विष है जो सत्य को उसकी जड़ों पर ही नष्ट कर देता है’ (प्रोजेलिटाइजेशन इज द डेडलियेस्ट प्वाइजन दैट सैफ़्स द वेरी फाउंडेशंस ऑव ट्रुथ) गांधी जी के इस कथन के संदर्भ और स्रोत के बारे में पूछा था मैंने रामस्वरूप जी (द नेम्ज ऑव गॉड’ तथा ‘कम्यूनिज्म एंड पीजेंट्री’ के यशस्वी लेखक) से।”² आज अचानक रामस्वरूप जी

का वह पत्र हाथ आ गया जिसमें उन्होंने मेरी पृच्छा का उत्तर देते हुए लिखा है-

‘देयर इज आ पब्लिकेशन ऑव नवजीवन प्रेस- ‘क्रिश्चियन मिशंस’ बाइ एम.के. गांधी, पब्लिशड इन 1914। इट कन्टैस दि आर्टिकल, फ्रॉम विच आइ कोटेड इन माइ आर्टिकल।’ ‘यही लेख पहले 16.01.1937 के ‘हरिजन’ में भी छप चुका था।’ यह भी उन्होंने मुझे सूचित किया है।

पुरी, 2 अक्टूबर, 04

‘तोशाली सैण्डज’ में 14 नंबर का कमरा। कमरा नहीं, कॉटेज। रास्ते में जो नदी दीखी थी पुरी से थोड़ा ही पहले- क्या वही चंद्रभागा थी? मुझे अपनी आयरलैंड की यात्रा का वह अद्भुत प्रसंग याद आ रहा है।”³ यह चंद्रभागा भी तो येट्स के ‘कूल टॉवर’ के पास से बहती नदी की तरह समुद्र आने से थोड़ा पहले ही लुप्त यानी अंतःसलिल हो जाती है और जहाँ विसर्जित होती है अंततः वही ‘चंद्रभागा’ नाम से प्रसिद्ध है :बालुका राशि भर। कोणार्क के पास।

उत्कल एक्सप्रेस कोई दो घंटा विलंब से पुरी पहुँची। सुबह ग्यारह बजे लगभग। परसों साढ़े पाँच बजे मालवा एक्सप्रेस पकड़कर बीना पहुँचे थे। वहाँ से उत्कल एक्सप्रेस पकड़ी थी। बड़ी लंबी यात्रा है। दो रातें और एक पूरा दिन ट्रेन में।

अभी-अभी राष्ट्रीय हिंदी अकादमी के स्वदेश दीपक मिलकर गए हैं राजेंद्र जोशी के साथ। इन्हीं के बुलावे पर 'आचार्य' हजारीप्रसाद द्विवेदी मिलकर गए हैं राजेंद्र जोशी के साथ। इन्हीं के बुलावे पर 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्मान' के निमित्त से पुरी की यह यात्रा हुई है। इन्हें अज्ञेय ने 'चौथा सप्तक' में लिया था। मिला नहीं था कभी इनसे। हिंदी की सेवा कर रहे हैं। 'अज्ञेय जी का भी यही आदेश था उनके कथनानुसार। तमाम बैंकों, संस्थाओं से हिंदी अधिकारी जुटे हैं यहाँ।'⁴ रत्नाकर पांडेय को भी पहली बार देखा-सुना। हिंदी की एक दुनिया यह भी है- इसका पहली बार साक्षात्कार हुआ। सहयात्री भी उसी हिंदी-सेवी अभियान से जुड़े जनसंपर्क विभाग के लोग।

खाना-वाना खाके आराम फरमाया- इतने में फोन बजा, बुलाहट हुई। चार बजे से पहला सत्र। सम्मान-सत्र। मंचासीन हुए। थोड़ा औपचारिक भाषण भी करना पड़ा। मजे की और आश्चर्य की बात यह हुई कि पूर्वघोषित 'हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्मान।' की जगह 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी' सम्मान मिला। आयोजकों की कार्यकुशलता का एक और सबूत। उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्यमंत्री अध्यक्ष थे।'⁵ जानकीवल्लभ पटनायक। उनका भाषण हुआ। एक कोई प्रसन्न कुमार भी थे। राजनीतिज्ञ और कवि। बड़े जोशोखरोश से बोले। फिर रत्नाकर पांडे, फिर दो-एक और। एक उड़िया लेखिका भी थीं, प्रौढ़ा- उन्हें भी सम्मानित किया गया था। स्वदेश दीपक का परिचय रत्नाकर पांडे ने एकाधिक बार 'तारसप्तक के कवि के रूप में दिया।

अकेला मेला-

सीधी, 3 जुलाई, 1969

‘दुःखदग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग, दोनों के एकीकरण का यत्न ही साहित्य है।’ प्रसाद की यह बात क्यों इस कदर मर्म को छू जाती है? इसलिए, कि स्वयं प्रसाद के कृतित्व में हमें मानवीय अनुभव का वह समूचा वर्णपट दिखाई देता है। एक ओर विषाद और वैफल्य की गहनतम अनुभूति से उपजी वे त्रासद पंक्तियाँ, जो हमारा पीछा नहीं छोड़तीं ‘सुख आहत शांत उमेंगें/बेगार साँस ढोने में यह हृदय समाधि बना है/रोती करुणा कोने में, और दूसरी ओर उतनी ही मार्मिक अनिवार्यता के साथ इसके एकदम विपरीत छोर पर आनंदमय आत्मा का यह संगीत- “मैं हूँ यह वरदान सरीखा/लगा गूँजने कानों में/मैं भी कहने लगा मैं रहूँ/ शाश्वत नभ के गानों में’ जीवनानुभूति का इतना बड़ा फलक, उसकी ऐसी गहराई और ऐसी उत्तीर्णता कम ही कवियों में मिलेगी।”⁶ स्वर्ग और नरक दोनों के भीतर से गुजरी हुई इस कविता के पीदे जो व्यक्ति और जो जीवन-दर्शन है, वह इसलिए और भी मार्मिक और विशिष्ट हो जाता है कि उसमें हिंदुस्तानी संस्कार की, हिंदुस्तानी संवेदन की खास अपनी पहचान बोलती है-

मैं की मेरी चेतनता

सबको ही स्पर्श किए सी

सब भिन्न परिस्थितियों की

है मादक घूँट पिए सी

एलियट ने एक बड़ी मार्मिक बात कही थी कि अपने व्यक्तित्व से उबरना चाहने का, यानी इस उबरने की छटपटाहट का एक कवि के लिए क्या अर्थ होता है, यह वही जान सकता है जिसके पास व्यक्ति हो। जितना समृद्ध और जितना शक्तिशाली वह व्यक्ति होगा, उससे उबर आने की छटपटाहट का भी उतना ही मूल्य होगा। प्रसाद के कृतित्व और वयक्तित्व के बीच कुछ ऐसा ही अर्थवान् और मूल्यवान् संबंध मुझे दिखता है। एक चिंतक की हैसियत से भी अपनी विरासत का जैसा मंथन प्रसाद ने किया है, वह हिंदुस्तानी मन और हिंदुस्तानी इतिहास की जटिलता को समझने के लिए एक ऐसी दृष्टि हमें देता है, जो प्रसाद से पहले हमें उस तरह कहीं नहीं मिलती।

यह उनकी अपनी खोज है जो हमारे अपने अनुभव को भी कहीं आलोकित करती है। इस चिंतन के पीछे एक बड़े कवि की जीवनानुभूति का, उसके अपने आत्मसाक्षात्कार का बल है।

मात्र एक काव्यांदोलन की अगुवाई करने या महज अपने स्नायुओं का जीर्णोद्धार करने के लिए किया गया बौद्धिक परिश्रम-भर वह नहीं है। इसीलिए उसमें एक पुख्तापन और खुलाव है। एक जबर्दस्त परिश्रम-भर वह नहीं है। इसीलिए उसमें एक पुख्तापन और खुलाव है। एक जबर्दस्त आत्मालोचन और

मोहमुक्त आस्था जो अतीत के मानदंडों से वर्तमान को टुकराने का आसान रासता नहीं अपनाती, न किसी कोरे भविष्यवाद में मनुष्य की नियति को घुला देती है। मनुपुत्र को निश्चंक भाव से इड़ा के हाथों में सौंपने वाला कवि जिस 'मनशील ओर निर्भय कर्म' के विश्वास से प्रेरित है, वह न तो योरोपीय 'डिसइनहेरिटेड माइंड' का इच्छित-चिंतन है, न उधारखाते का प्रगतिवाद। उसके पीछे एक ऐतिहासिक बोध-संपन्न नए भारतीय मनुष्य का विवेक हे, और है वह संपन्न आलोक, जो 'रघुवंश' का उपसंहार करते हुए कवि कालिदास को दिखाई दिया था।

भोपाल, महाशिवरात्रि, 6 फरवरी, 1980

इजा और कक्कू मंदिर के भीतर चले गए। मैं सीढ़ियों के नीचे उनकी चप्पलों की चौकीरी करता बैठा था। मंदिर का विशाल प्रांगण खचाखच भरा था। उस विशाल जन-समुद्र में उठती हिलोरों ने मुझे छा लिया : पाँवों का जंगल था वह- पाँवों का समुद्र- कोमल फूल सरीखे पाँव, जर्जर बिवाइयों से भरे पाँव, नंगे काले खुरदरे पाँव, गोरे, गहनों से अलंकृत पाँव, कमजोर और लड़खड़ाते पाँव, फुरतीले थिरकते पाँव। 'पाँवों का मेला था वह, मुझ पर से गुजरता हुआ। और मैं ? मैं कहाँ था ? उस जंगल, उस समुद्र में ?

क्या था वह ? वहाँ बैठे-बैठे मुझे क्या हो गया था यकायक ? वह जैसे एक बहुत पुरानी और जानी-पहचानी अनुभूति थी और फिर भी एक विचित्र

अनिर्वचनीय ढंग से नई। आँखें जैसे तैरने लगीं अपने ही आँसुओं की बाढ़ में' जाने कितनी देर मैं न कुछ देख रहा था, न सुन रहा था। कुछ भी नहीं सोच रहा था, भीतर और बाहर सब कुछ निस्तब्ध हो गया था। एकदम शून्य।

भोपाल, 11 अप्रैल, 1980

सुबह पंडित सियाराम तिवारी ने सचमुच समूं बाँध दिया। धुपद धमार। कोमल रिषभ आसावरी। उसके बाद एक होरी धमार, यशोदा अपने कान्ह को समझाओ। फिर भजन, सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

कार्यक्रम के बाद हम मंच के पीछे उनसे मिलने गए। सबसे पहले अमजद ने लपककर बधाई दी। 'अरे बबुआ! तुम! कहते हुए पंडित जी ने अमजद को अपनी बाँहों में भर लिया। अरे मूल तो यही है बबुआ। बाकी तो शाख-पत्ते हैं। अबकी आऊँगा तो तुमरी सुनाऊँगा। मैं सीखा हूँ तुमरी बनारस घराने की। खूब सीखा हूँ। सुनाता कम हूँ क्योंकि धुपद के बाद तुमरी कुछ जमती नहीं। हलका पड़ जाता है। इसलिए भजन गाता हूँ। भजन ठीक है धुपद के बाद।

इस उम्र में भी पंडित जी का चेहरा कैसा दिपदिपा रहा था। अच्छे-खासे जवान भी जल मरें, ऐसी कड़क आवाज! बोले, लुप्त ही हुआ जा रहा था मगर बच गया किसी तरह। और, कैसे न बचता। इतनी बड़ी चीज को क्या यूँ ही

खत्म हो जाने देंगे ? देख लो, नए लड़के आ रहे हैं और आएँगे। खूब ठसके से आएँगे। आएगा फिर से वो जमाना बबुआ। फिर से लौटकर आएगा।

संदर्भ सूची

- 1- आचार्य, नन्द किशोर भूलने के विरुद्ध, 'नया शिक्षक', जनवरी-मार्च, 1991, पृ.52
- 2- वाजपेयी, अशोक (संपा.) पहचान सीरीज-3, 'भंगिमा पत्रिका', इलाहाबाद प्रेस रानीमंडी, इलाहाबाद, 1971, पृ.77
- 3- चातक, गोविन्द छायावाद की प्रासंगिकता, पृ.11
- 4- चतुर्वेदी, गोविन्द छायावाद की प्रासंगिकता, आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रचारित, पृ.44
- 5- चौधरी, डी.पी. उकाव हुलार, 'पुरवासी', हुक्का क्लब, अल्मोड़ा, वर्ष 16 अंक 16, 1995, पृ.39
- 6- दुबे, रमेश दत्त रचना बच जाना है, हरिश्चन्द्र आओ, 'कलावती' में प्रकाशित, पृ.63